अध्याय -- ६

-०-

सन्तों के भक्ति-निरूपण में काव्य-सौन्दर्य

(१) रस

(२) प्रतीक, रूपक, उलटबांसी

(३) छन्द और भाषा

-०-

अध्याय--६

-०-

सन्तों के भक्ति-निरूपण में काव्य-सौन्दर्य

मानव जीवन में लयात्मक अभिव्यक्ति परिव्याप्त है। इस लयात्मक अभिव्यक्ति से ही दो स्वरूप विकसित हुए हैं-- काव्य और संगीत। काव्य के तीन रूप मिलते हैं-- विचारों को अभिव्यक्त करने वाली छन्दात्मक रचना, वस्तुवृत्तात्मक काव्य और गीत तथा लोक गीत[१]। किन्तु सन्तों की रचनाओं में लोकगीत नहीं प्राप्त होते।

सन्तों के काव्य से स्पष्ट है कि उन्हें लौकिक ऐश्वर्य एवं यश की लालसा नहीं थी। उनकी व्यक्तिगत 'स्वानुभूति' में विश्वजनीन अनुभूति की व्यापकता थी और उनके आदर्श पद की स्थिति ठेठ व्यवहार से कहीं बाहर न थी। अपनी रचना के माध्यम को भी इसी कारण, उन्होंने अधिक महत्व कभी नहीं दिया और न उसके शब्द एवं शैली में चमत्कार लाने के पीछे, उसके भाव सौन्दर्य के प्रति वे कभी उदासीन हुए। इसके सिवाय अपने उच्च से उच्च एवं गम्भीर से गम्भीर भाव को भी वे सदा सर्वसाधारण की ही भाषा में व्यक्त करते हुए आए और उन्हीं के दृष्टांतों एवं मुहावरों

१- डा० रामखेलावन पाण्डेय -- मध्यकालीन संत साहित्य, पृ०२१३

द्वारा उन्होंने उसका स्पष्टीकरण भी किया[१]।

सन्तों ने रूढ़िगत परम्पराओं का खण्डन किया। रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह और क्रान्ति की। सन्तों ने भाव पर बल दिया। भाव ही काव्य की आत्मा है। काव्य की आत्मा जितनी ही दृढ़ और उच्च होगी काव्य उतना ही उच्चकोटि का होगा। भावों के अतिरिक्त सन्तों ने काव्य के अन्य उपकरणों तथा वाह्याडम्बरों को महत्वहीन कहा। उन्होंने काव्यशास्त्र छंद तथा पिंगल आदि के नियमों का पालन भी नहीं किया।

तात्पर्य यह कि कबीर,नानक,दादू तथा सुन्दरदास आदि सभी सन्त कवियों के काव्य में कला की उपेक्षा है। लेकिन भाव-सौन्दर्य, संदेश की महत्ता और प्रभविष्णुता व्याप्त है। सन्तों के काव्य में वाह्याचारों की आलोचना की गई है तथा रस,प्रतीक,रूपक,उलटवासियां एवं सरल शैली अलंकार विहीन जनता में प्रचलित अति साधारण छन्द अत्यन्त सहज भाषा में प्रयुक्त हुए हैं। इनपर हम नीचे प्रकाश डालते हैं --

रस

रस ही काव्य की कसौटी है।'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' अर्थात् रसात्मक वाक्य ही काव्य है, यह सिद्धान्त सर्वमान्य है। भारतीय साहित्यशास्त्र में रस की ही व्याप्ति है। आत्म-भाव का प्रसार ही आनन्द का मूल उत्स है। अतः आत्म चैतन्य की प्राण-धारा ही काव्य की रस-धारा है। आत्म भाव के प्रसार का अर्थ है अपनी भावना विचार और अनुभूति को

१- सन्त काव्य,पृ०४६-५०

ही।

सामान्य और सर्व-सुलभ बनाना, जिसे साहित्य शास्त्र में 'साधारणीकरण' की संज्ञा[१] प्राप्त है। आचार्य भरत के अनुसार 'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के संयोग से ही रस निष्पत्ति होती है। वेदों में 'रसो वै सः' तथा 'रस ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' कहकर इसकी महत्ता स्वीकार की गई है। यह स्पष्ट है कि काव्य में रस नहीं होता, रसोद्रेक की क्षमता होती है। सहृदय ही उससे आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। अतः काव्य की रसात्मकता का यही अर्थ है कि पाठक को अनुभूति उस भाव स्थिति में पहुंचा दिया जाय जहां रागात्मक अनुभूति व्यक्तिगत भावना की संकुचित सीमा का त्याग कर समष्टिगत सहज आनन्द का उन्मेष करा सके और इसकी उपलब्धि का अर्थ है -- तन्मय और तल्लीन करने की क्षमता। 'रस' मानसिक है, आध्यात्मिक है, साधन और माध्यम चाहे स्थूल ही क्यों न हों[२]।

आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रारम्भ में रस चार ही थे -- शृंगार, रौद्र, वीर, वीभत्स। भरत ने नाट्यशास्त्र में कहा है--

'शृंगाराद्धि भवेद्धास्य रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः बीभत्साच्च भयानकः।।'

अर्थात् शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत, तथा वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति हुई। नाटकों में शान्त रस ग्राह्य नहीं था। इसीलिए भरत ने नाट्य शास्त्र में केवल आठ ही रसों की कल्पना की है। कालान्तर में शान्त, वात्सल्य और भक्ति भी रस की संज्ञा से अभिहित हुए। जहां सन्तों ने आत्मा

१- डा० रामलोचन पाण्डेय-- मध्यकालीन संत साहित्य, पृ०२२२

२- ,, ,, पृ०२२३

को विरहिणी मान कर परमात्मा से संयोग और वियोग की बात कही है, वहाँ शृंगार रस की निष्पत्ति हुई है,जहां परमात्मा के अनन्त वैभव की बात अथवा प्रकृति-विपर्यय के रूपकों की बात कही है,वहां अद्भुत रस की सृष्टि हो गई है। सन्त सुन्दरदास ने इन रसों के अतिरिक्त वात्सल्य रस का वर्णन भी किया है, जहां संसार की नश्वरता और मनुष्य के अस्थि मज्जा युक्त शरीर की व्यर्थता स्पष्ट की है। अन्य रस उचित ही प्रयुक्त हुए हैं। इन रसों का प्रयोग संत साहित्य में किस प्रकार हुआ है,इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार से है :-

शृंगार रस

संयोग शृंगार

संयोग शृंगार में आत्मा रूपी नायिका का मिलन परमात्मा रूपी नायक से होता है। इस मिलन के उपरान्त जो सन्तोष एवं उल्लास का भाव उत्पन्न होता है,उससे आप्लावित होकर नायिका कह उठती है --

अब तोहि जान न दैहूं राम पियारे,
ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे ।।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठे आये ।।
चरननि लागि करौं बरियाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ।।
इत मनमंदिर रहौ नित चौंप, कहै कबीर परहु मति चौंप।।[१]

वियोग शृंगार

इसमें परमात्मा रूपी नायक के बिछुड़ जाने पर नायिका की विरह-व्यथा का वर्णन है --

---

१- कबीर ग्रन्थावली,पृ०८७

है।

'अजहुं न निकसै प्रांण कठोर ।
दर्शन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर ।।
चारि पहर चारयो जुग बीते, रैनि गंवाई भोर ।
अवधि गई अजहुं नहिं आये, कतहुं रहे चित चोर ।।१।।
कबहुं नैन निरखि नहिं देखे, मारग चितवत तोर ।
दादू ऐसें आतुर विरहिणि, जैसें चंद चकोर ।।२।।'[१]

शान्त रस

संसार की अस्थिरता एवं नश्वरता का ज्ञान हो जाने पर जो भाव व्यक्त किया जाता है, उसमें शान्त रस की अनुभूति होती है :

ज्ञान की बान लगी धरती, जन सोवत चौंकि अचानक जागे ।
छूटि गयो विषया विष बन्धन, पूरन-प्रेम सुधारस पागे ।
मावत वाद विवाद निनाद न, स्वाद जहां लगि सो सब त्यागे ।
मूंदि गईं अंखियां तबतें, जबतें हिय में कछु हेरन लागे ।।

वीर रस

सन्तों की रचनाओं में वीर रस का प्रयोग, मन एवं इन्द्रियों के दमनार्थ युद्ध का रूपक बांधकर किया गया है--

'गगन दमामा बाजिया, पड्या निसानं घाव ।
खेत बुहार्‌या सूरिवै, मुझ मरण का चाव ।।'[२]
'कबीर मेरे संसा को नहीं, हरिसंग लागा हेत ।
काम क्रोध सूं झूझणा, चौड़े मांड्या खेत ।।'[३]

१- दादू दयाल की वाणी, पद ६, पृ०३५६
२- कबीर ग्रन्थावली, साखी६, पृ०६८
३- ,, ,, ७, पृ०६८

बीभत्स रस

सन्तों के काव्य में बीभत्स रस के वर्णन भी प्राप्त होते हैं। जहां मानव-शरीर के प्रति जुगुप्सा का भाव व्यक्त किया गया है, वहीं नारी को नरक का कुण्ड बतलाया गया है। सन्त सुन्दरदास ने कहा है--

'उदर में नरक नरक अधकारनि में,
कुचनि में नरक नरक भरी छाती है।
कंठ में नरक गाल चिबुक नरक बिंब,
मुख में नरक जीभ लारहू चुवाती है॥
नाक में नरक आंखि कान में नरक बहै,
हाथ पाव नख शिख नरक दिखाती है।
सुन्दर कहत नारी नरक को कुंड यह,
नरक में जाइ परै सो नरक पाती है॥'[१]

भयानक रस

कबीर आखी कैरे माटुकै पलु पलु गई बिहाइ।
मनु जंजालु न छोडई जम दीआ दमामा आइ॥[२]

अद्भुत रस

सन्तों ने गूढ़तम भावों की ओर जनसामान्य का ध्यान आकर्षित करने के लिए अद्भुत रस का प्रयोग किया है, जिसमें क्रम-विपर्यय तथा अलौकिक वर्णनों के द्वारा लोगों के हृदय में विस्मय उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है। यथा--

---

१- सुन्दर ग्रन्थावली, पृ०४३८
२- डॉ० रामकुमार वर्मा-- सन्त कबीर, श्लोक २२७, पृ०२७१

समन्दर लागौं आगि, नदियां जलि कोइला भई ।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूखां चढ़ि गई ।।[१]

तात्पर्य यह कि समुद्र में आग लग गई (शरीर में ज्ञान की अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी) और नदियां जलकर कोयला हो गई अर्थात् सभी सांसारिक वृत्तियां भ्रष्ट हो गई । और कबीर अब जागकर देख, मछली वृक्ष पर चढ़ गई है (कुंडलिनी सुषुम्णा के शिखर पर चढ़ गई) ।

सन्त काव्य में करुण,हास्य,रौद्र,वात्सल्य तथा भक्ति रसों के उदाहरण कम मिलते हैं । यदा-कदा संसार और साधना के विषय में कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं--

करुण रस

हौं बिरह की लाकड़ी, समिकि समिकि धुंधाऊं ।
छूटि पड़ौं या बिरह तैं, जे सारीही जलि जाऊं ।।[२]

रौद्र रस

एक कौटु पंच सिकदारा पंचे मागहि हाला ।
जिमी नाहीं मैं किसी का बोई ऐसा देतु दुखाला ।।
हरि के लोगा मो कउ नीति डसै पटवारी ।
ऊपरि मुजा करि मैं गुर पहि पुकारिआ तिनि हउ लीआ उबारी ।।
नउ डाढी दस मुंसफ धावहि रईयति बसन न देही ।
ढोरी पूरी मापहिं नाही बहु बिसटाला लेंही ।।[३]

१- कबीर ग्रन्थावली,पृ०४३८-(३) पृ०१२
२- ,, -- विरह कौ अंग ३७,पृ०१०
३- सन्त कबीर -- रागु सूही ५,पृ० १५१

हास्य रस

कबीर कूकर राम को मुतीया मेरो नाउ ।
गले हमारे जेवरी जह खिंचे तह जाउ ।।[1]

वात्सल्य रस

हरि जननी मैं बालक तेरा, काहे न अवगुन बकसहु मेरा ।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित रहै न तेते ।
कर गहि केस करै जो घाता, तऊ न हेत उतारै माता ।
कहै कबीर एक बुद्धि विचारी, बालक दुखी दुखी महतारी।।[2]

भक्ति रस

भाव भगति बिस्वास बिन, कटै न संसै सूल ।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुकति नहीं रे मूल ।।[3]

(२) प्रतीक, रूपक, उलटबांसी

प्रतीक

रहस्यात्मक सत्य को प्रकट करने के लिए प्रतीकों की आवश्यकता पड़ती है । जब हमारी भाषा सच्चे भावात्मक रहस्य को प्रकट करने में असमर्थ हो जाती है, उस समय वास्तविकता तक पहुंचने के लिए प्रतीकों का माध्यम ग्रहण करना पड़ता है । प्रतीकों का प्रयोग एक ऐसी प्रक्रिया है,

स----------

१- सन्त कबीर सलोकु ७४, पृ०२५६
२- कबीर ग्रन्थावली, पृ०१२४
३- ;, ,, पृ०२४५

जिसे मनुष्य अपने भावों की यथेष्ट अभिव्यक्ति के लिए बहुत दिनों से काम में लाता आया है और जिसका रहस्य उसके मानसिक व्यापारों पर किंचित् विचार करने से बहुत स्पष्ट हो जाता है। पं० परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में-- 'प्रतीक' से अभिप्राय किसी वस्तु की ओर इंगित करने वाला न तो संकेतमात्र है और न उसका स्थान दिखाने वाला कोई चित्र वा प्रतिरूप ही है। यह उसका जाता-जागता एवं पूर्णतः स्वतंत्र प्रतिनिधि है, जिस कारण इसे प्रयोग में लाने वाले को इसके द्वारा वे उसके उपयुक्त सभी प्रकार के भावों को सरलतापूर्वक व्यक्त करने का पूरा अवसर मिल जाया करता है। ..... इसकी सहायता बहुधा ऐसे अवसरों पर ली जाती है जब हमारी भाषा पंगु और अशक्त-सी बनकर मौन धारण करने लगती है और जब अनुभवकर्ता को विविध भाव-शिखा से चतुर्दिक टकराने वाले स्रोतों की भाँति फूट निकलने के लिए मचलने-से लग जाते हैं। ऐसी दशा में हम उनकी यथेष्ठ अभिव्यक्ति के लिए उनके साम्य की खोज अपने जीवन के विभिन्न अनुभवों में करने लगते हैं और जिस किसी को उपयुक्त पाते हैं, उसका प्रयोग कर उसके मार्ग द्वारा अपनी भाव-धारा को प्रवाहित कर देते हैं[1]।

प्रतीकों की परम्परा बड़ी प्राचीन है। वेद, उपनिषद् एवं पौराणिक ग्रन्थों में प्रतीकों के प्रभूत प्रमाण प्राप्य हैं। इस प्रकार प्रतीक-योजना का उद्भव अनुभूति को सबल और अधिक व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए ही हुआ। विस्मय की भावना और आनन्द की कामना का योग प्रतीकों के प्रयोग में अन्तर्निहित है[2]। 'प्रतीक' शब्द का सामान्य अर्थ है--संकेत, चित्र, चिन्ह या स्वरूप, किन्तु व्यापक अर्थ में प्रतीक कोई वस्तु अथवा चित्र नहीं होता, वरन् एक विराट् रचनात्मक प्रक्रिया में पड़ने वाला एक बिन्दु है जो

१- पं० परशुराम चतुर्वेदी-कबीर साहित्य की परख, पृ०४२
२- डा० रामकुमार वर्मा- हिन्दी अनुशीलन(धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक)-हिन्दी साहित्य में प्रतीक योजना, पृ०३८८

किसी पदार्थ को एक निश्चित वस्तु के रूप में परिचित कराता है[१]।

प्रतीकों का मूलाधार यथार्थ वस्तुएं हैं-- काल्पनिक अथवा निराकार वस्तुएं नहीं। प्रतीकों के निर्णय में हम अपने दैनिक जीवन के प्राय: सभी क्षेत्रों पर दृष्टि डालते हैं। प्रतिदिन के विविध कार्य-व्यापारों, दास्य, सख्य एवं दाम्पत्य-- विविध भाव सम्बन्धों को हम प्रतीक रूप में ग्रहण कर लेते हैं। बहुत से प्रतीक तो ऐसे होते हैं, जो किसी सम्प्रदाय विशेष की परम्परा में प्रयुक्त होते रहने के कारण प्रसिद्ध हो जाते हैं। ऐसे प्रतीकों में कबीर के यौगिक-प्रतीक रखे जा सकते हैं। डा० सरनाम सिंह के अनुसार कबीर के यौगिक प्रतीक परम्परा युक्त हैं। वे सिद्धों और नाथों की टकसाल के प्रचलित सिक्के हैं[२]।

कबीर के यौगिक प्रतीकों को सांकेतिक एवं पारिभाषिक प्रतीकों के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। गंगा, यमुना, सरस्वती, त्रिवेणी, असीघाट, प्रयाग आदि शब्द सांकेतिक प्रतीक हैं तथा सहज, अजपा, शून्य, हरि, निरंजन, नाद, बिन्दु आदि पारिभाषिक प्रतीक हैं। कबीर ने दोनों प्रकार के प्रतीकों का कुशलता पूर्वक निर्वाह किया है।

सन्त साहित्य में दास्य, सख्य एवं दाम्पत्य तथा सांकेतिक एवं पारिभाषिक प्रतीकों के अतिरिक्त संख्यामूलक एवं रूपकात्मक प्रतीकों का भी प्रयोग हुआ है। संख्यावाची प्रतीकों में पांच और पचीस, तीन तथा आठ, नौ और दस आदि का प्रयोग हुआ है, जिनमें पांच और पचीस-- पांच इन्द्रियों तथा पचीस प्रकृतियों के प्रतीक हैं। तीन का प्रयोग-- तीन गुण-- सत, रज, तम

१- डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित--हिन्दी सन्त साहित्य, पृ०१६२

२- डा० सरनाम सिंह शर्मा-- कबीर: एक विवेचन, पृ०२०४

मन-पवन-सुरति तथा तीन नाड़ियों-- इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना के रूप में हुआ है । आठ से सात्पर्य अष्ट-दल कमल, नौ से देह के नौ द्वार और ब्रह्मरन्ध्र के रूप में दसवें द्वार का प्रयोग हुआ है । अब हम इन प्रतीकों पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे ।

दास्य भाव के प्रतीक

सन्तों ने प्रभु के समक्ष अपना सर्वस्व समर्पित करते हुए उनका दासत्व स्वीकार किया है । सन्त कबीर कहते हैं कि मैं उस प्रभु का 'गुलाम' हूं । मेरा तन-मन-धन सब उसी प्रभु के चरणों पर न्यौछावर है । एकमात्र वही सब कुछ है-- वही जीव को सांसारिक हाट में उतारने वाला है, वही खरीदने वाला तथा बेचने वाला भी है ।

मैं गुलाम मोहि बेंचि गुसांई ,
तन मन धन मेरा रांम जी के तांई ।।
आंनि कबीरा हाटि उतारा,
सोई गाहक सोई बेचनहारा ।।
बेचै रांम तौ राखै कौंन,
राखै रांम तौ बेचै कौन ।।
कहै कबीर मैं तन-मन जाच्या,
साहिब अपनां दिन न बिसारया ।।[१]

प्रभु और जीव का पार्थक्य भाव तो मात्र जीव के मन का भ्रम है । किसी 'दास' के क्रेता-विक्रेता का पृथक् अस्तित्व उस जीवात्मा के मन की भ्रांति के कारण है, जिसके दूर होते ही वह स्वयं भी तदाकार (ब्रह्म स्वरूप) बन जाता है ।

१- कबीर ग्रन्थावली, पद १९३, पृ०१२४

गुरु नानक ने भी प्रभु का दासत्व स्वीकार किया है। 'मुलं खरीदी लाल गोला मेरा नांउ समागा' कहकर स्वयं को प्रभु द्वारा क्रय किया हुआ मानते हैं।[1]

दादू दयाल ने प्रभु को ही एकमात्र अपना सर्वस्व स्वीकार करते हुए स्वयं को उनका दास कहा है। इतना ही नहीं, वरन् उनके द्वारा परित्यक्त किये जाने पर वे प्राण-निछावर करने के लिए भी तत्पर हो जाते हैं।

'क्यों हम जांवैं दास गुसाईं । जे तुम छाड़ौ समरथ साईं ।।
जे तुम जन को मनहिं बिसारा । तौ दूसर कौन सम्भालनहारा ।।
जे तुम परिहरि रहौ निनारे । तौ सेवत जाइ कौन के द्वारे ।।'[2]

इसी प्रकार अन्य सन्त-कवियों ने भी दास्य भाव के प्रतीकों द्वारा परमात्मा के प्रति जीवों का आत्म समर्पण भाव व्यक्त किया है।

वात्सल्य भाव के प्रतीक

सन्तों ने वात्सल्य भाव को व्यक्त करते हुए परमात्मा को 'जननी' तथा जीवात्मा को 'बालिक' के रूप में स्वीकार किया है। यद्यपि 'जननी' और 'बालिक' का यह प्रतीकात्मक सम्बन्ध स्पष्टतः ब्रह्म और जीव के बीच द्वैतभाव को प्रकट करता है, किन्तु इस प्रतीकात्मक दृष्टांत के मूल में अद्वैत की भावना निहित है। सन्तों ने हरि को 'जननी' का प्रतीक तथा जीव को 'बालिक' का प्रतीक मानकर बालक द्वारा किए गए असंख्य अपराधों को जननी

१-श्री गुरुग्रन्थ साहिब, पृ०९९१
२-दादू दयाल की बानी--भाग२, पृ०७

द्वारा सहज रूप में स्वीकार कर मातृत्व भाव को जागृत कराया है । बालक के करोड़ों अपराध करने पर भी, स्नेह के वशीभूत होकर माता दु:खों को झेलती हुई भी, पुत्र को क्षमा कर देती है उसके अपराधों पर ध्यान तक नहीं देती, अन्त में दोनों एकाकार हो जाते हैं--

'हरि जननी मैं बालिक तेरा,
काहे न अवगुण बकसहु मेरा ।।
सुत अपराध करै दिन केते,
जननी के चित रहैं न तेते ।।
कर गहि केस करै जो घाता,
तऊ न हेत उतारै माता ।।
कहै कबीर एक बुद्धि विचारी ,
बालक दुखी दुखी महतारी ।।'[१]

जननी के अतिरिक्त कहीं-कहीं कबीर ने 'बाप' का प्रतीक स्वीकार करते हुए ब्रह्म और जीव के बीच पिता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित किया है --

'हउ पूत तेरा तुं बापु मेरा ।'

तथा--

''बापि दिलासा मेरो कीन्हा । सेज सुखाली मुखि अमृत दीन्हा ।।'

कहकर उनकी कृतज्ञता ज्ञापित की है ।

सन्त दादूदयाल ने भी हरि को 'बाप' का प्रतीक बतलाते हुए स्वयं को अपराधी कहा है ।

१- कबीर ग्रन्थावली, पद १११, पृ०१२३

'मैं अपराधी बाप जी, मैरे तुम ही एक अधार ।'

इस, प्रकार अन्य सन्त कवियों ने भी प्रतीकों के माध्यम से वात्सल्य-भाव को व्यक्त किया है ।

दाम्पत्य भाव के प्रतीक

सन्त कबीर तथा अन्य सन्त-कवियों की रचनाओं में दाम्पत्य भाव वाले प्रतीकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है । जब आध्यात्मिक अनुभवों के दिव्य आह्लाद की अभिव्यक्ति में भाषा की सामान्य शक्तियां जवाब दे देती हैं, तो कबीर कदाचित् विवश होकर उन लौकिक व्यवहारों के माध्यम को अपनाते हैं, जहां से उनकी अनुभूति का निकटतम दर्शन हो सके । उनमें प्रेषणीयता अपनी पूरी शक्ति से व्यक्त होती है । जो प्रेम दाम्पत्य सम्बन्धों की तीव्रता में लौकिक रूप धारण करता है, वही उस अलौकिक शाश्वत आकांक्षा में परिवर्तित हो जाता है, जो उसका परस्पर शक्ति से शान्त एवं निश्चल सम्बन्ध स्थापित करती है । इस प्रेम में दुलहिन और दुल्हा का प्रेम सहज होते हुए भी विलक्षण है । यद्यपि सूफी साहित्य में प्रेमी और प्रेमिका के प्रेम से सम्बन्धित प्रतीकों को महत्व दिया गया है, परन्तु सन्तों के साहित्य में यह दाम्पत्य प्रेम विवाह सम्पन्न हो जाने के अनन्तर विकसित होता है । यह विवाह लौकिक दृश्यों को प्रस्तुत करते हुए आध्यात्मिकता की ओर संकेत करता है --

---

१- डा० सरनाम सिंह -- कबीर : एक विवेचन, पृ०२०६

है ।

'पुलकित गात्रहुं मंगलचारा, घर आयो हो राजा राम भतार ।
तन-रति करि मैं मन रति करिहूं पंच तत्व बराती ।
रामदेव मोहि ब्याहन आए मैं जीवन मदमाती ।।
सरीर सरोवर बेदी करिहूं ब्रह्मा वेद उचार ।
रामदेव संग भांवरि लैहूं धनि धनि भाग हमार ।।
सुर तैंतीसूं कौतिग आए मुनिवर पहुप बठावैं ।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं पुरिष एक अबिनासी ।।'[1]

विवाह के पश्चात् प्रेमी और प्रेमिका परमानन्द को प्राप्त होते हैं । नवबधू रूपी आत्मा का प्रियतम रूपी परमात्मा से मिलन हो जाने पर, पुनः वह उससे भिन्न नहीं होना चाहती--

'अब तोहि जांन न दैहूं राम पियारे । ज्यूं भावै त्यूं होइ हमारे ।।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये ,
भाग बड़े घरि बैठे आये ।।
चरननि लागि करौं बरियाई ,
प्रेम-प्रीति राखौं उरझाई ।।
इत मन-मंदिर रहौ नित चोष
कहै कबीर परहु मति धोष ।।'[2]

यहां 'बहुत दिनन के बिछुरे' से तात्पर्य जन्म-जन्मान्तरों से भटकती हुई आत्मा से है तथा 'घरि बैठे' से तात्पर्य अपने घट के भीतर ही प्रियतम को प्राप्त कर लिया है ।

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ०६०
२ ,, पद ३, पृ०८७

दादूदयाल भी राम-राम से प्रियतम को पुकार रहे हैं--

'प्रीति जो मेरे पीव की, बैठो पिंजर माँहि ।
राम राम पिउ पिउ करै, दादू दूसर नाहिं ।।'

इस प्रकार अन्य सन्त-कवियों ने भी दाम्पत्य प्रतीकों के माध्यम से आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध व्यक्त किया है ।

दास्य,वात्सल्य एवं दाम्पत्य भाव के प्रतीकों के अतिरिक्त सन्तों ने और भी अनेक प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग किया है । उदाहरणार्थ-- सांकेतिक प्रतीक,पारिभाषिक प्रतीक, संख्यामूलक प्रतीक तथा रूपकात्मक प्रतीक ।

सांकेतिक प्रतीक

गंगा,यमुना,सरस्वती,त्रिवेणी,अवधाट,प्रयाग आदि शब्द सांकेतिक प्रतीक हैं,यथा--

'सूर समाणां चन्द में दुहूं किया घर एक ।
मन का च्यंता तब भया, कछू पुरबला लेख[१] ।।'

यहां 'सूर' का प्रयोग मूलाधार के चक्र के लिए तथा चन्द्र का प्रयोग सहस्र दल कमल के चन्द्र के लिए हुआ है तथा दोनों को सुषुम्ना से जोड़ा जाता है । यह योग की अवस्था है ।

और भी--

'उलटत पवन चक्र षट भेदे, सुरति सुन्न अनुरागी ।
आवे न जाइ मरै न जोवै, तासु खोजु वैरागी ।।
मेरे मन मनही उलट समाना[२] ।'

१- कबीर ग्रन्थावली,पृ०२७७
२- सन्त कबीर,रागु गउड़ी

तथा--

'नगरी एकै नउ दरवाजे धावतु बरजि रहाई ।
त्रिकुटी छूटै दसवां दर खुलै ता मन सीवा भाई[1] ।।'

तात्पर्य यह कि नगरी (शरीर) तो एक है । जिसके नौ दरवाजों में दौड़ते हुए अपने को जो रोक सकता है तथा त्रिकुटी को छोड़कर जो अपने दसवें द्वार(ब्रह्मरन्ध्र) को खोल सकता है, वही सच्चे रूप में मन सीवा (मनुष्य) है ।

पारिभाषिक प्रतीक

सहज,अजपा,सुरति-निरति,शून्य,हरि,निरंजन,नाद,बिन्दु आदि पारिभाषिक प्रतीक हैं ।

यथा--

'अजपा जपत सुनि अभि-अंतरि, यह तत जानै सोई[2] ।'

तथा--

'सुरति समाणी निरति में निरति रही निरधार ।
सुरति निरति जब परचा भया, तब छूटे स्वयंम दुवार ।।'

इसके अतिरिक्त परमात्मा के प्रेम के लिए 'रस','रसायण' 'हरिरस','रामरस' आदि पारिभाषिक पतीकों का भी प्रयोग हुवा है-- यथा--

'हरिरस पीया जाणियै, कबहुं न जाइ खुमार ।
मैमंता घूमत फिरै, नाहीं तन की सार ।।'

१- सन्त कबीर-- रागु केदारा,४७

२- कबीर ग्रन्थावली,पृ०२०४

संख्यामूलक प्रतीक

कबीर ने ऐसे प्रतीकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है, जिनका सम्बन्ध विशिष्ट संख्याओं से है--

'चौंसठ दीवा जोय के, चौदह चन्दा माँहि ।
तेहि घर किसका चाँदना, जेहि घर गोविन्द नाहि ।।'

यहां पर 'चौंसठ' और 'चौदह' संख्यामूलक प्रतीक हैं । चौंसठ कलाओं का तथा चौदह विद्याओं का प्रतीक है । इसी प्रकार अन्य संख्याबोधी प्रतीकों का प्रयोग कबीर ने किया है --

इहु मन पंच तत को जाउ । ग०७५
पाँचउ लरिका मारिबै, रहै राम लिव लागि । स०४२
केवल नाम जपहु रे प्रानी परहु एक की सरना । घ०२।

सन्त कबीर के अतिरिक्त नानक, दादूदयाल आदि ने भी संख्याबोधी प्रतीकों का कुशल निर्वाह किया है--

'उलटिओ कमलु ब्रहमु बीचारि । अमृत धार गगनि दस दुआरि ।
त्रिभवणु बेधिआ आपि मुरारि ।।'[१]

तथा--

नउ दरवाजे काइआ, कोटु है दसवै गुपतु रखीजै ।
बजर कपाट न खुलनी, गुर सबदि खुलीजै ।।'[२]

१- नानक- श्री गुरु ग्रन्थ, पृ०१५३
२- ,, ,, पृ० ६५०

दादूदयाल ने भी कहा है--

मन पवना ले उनमन रहै, अगम निगम मूल सो लहै ।
पंन बाइ जे सहंजि समावै, ससिहरि के घरि आणैं सूर ।।
सीतल सदा मिलै सुखदाई, अनहद सबद बजावै तूर ।
बंक नालि सदा रस पीवै, तब यहु मनवां कहीं न जाइ ।।
बैठि गुफा में जोति विचारै, तब तेहिं सूझै त्रिभुवन राइ ।[१]

इसी प्रकार अन्य परवर्ती सन्त कवियों ने भी दास्य, वात्सल्य एवं दाम्पत्य प्रतीकों के अतिरिक्त सांकेतिक, पारिभाषिक तथा संख्यामूलक प्रतीकों का प्रयोग बड़ी ही कुशलतापूर्वक किया है ।

रूपक

सन्तों ने दुरूह ब धर्म और दर्शन को सहज रूप में सामान्य जनता तक पहुंचाने के लिए रूपकों का माध्यम ग्रहण किया । इनकी इस रूपक परम्परा में सिद्धों और नाथों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है । रूपक एक संश्लिष्ट मूर्त-विधान है, जिसमें किसी वस्तु के वर्णन में दूसरी वस्तु का वर्णन निहित रहता है । यह एक वस्तु के स्थान में दूसरी वस्तु का विधान उपस्थित करता है ।

सन्तों के रूपकों में किसी वस्तु का सांगोपांग वर्णन स्पष्ट होता है । इनके रूपकों में प्रमुखत: कबीर के हठयोग सम्बन्धी रूपक

१- दादू दयाल की बानी, पद ४०५

तथा आंधी, चौपड़, जुलाहा, जोगी तथा विवाहादि रूपक आते हैं । कबीर के रूपकों में प्राय: उपमान परम्परागत न होकर प्रतीकात्मक हैं । ये रूपक जन-सामान्य के जीवन से सम्बन्धित तथा मौलिक हैं । यथा-- आटा, आम, आरती, काजल की कोठरी, किसान, कुम्हार, गगरी, गांव, चक्की, चोर, चौपड़, थैला, नाव, न्यायालय, पनिहारी, बाजीगर, बनजारा, विवाह, वधू को विदा, विरहिणी, वेध, हल्दी तथा चुना आदि ।

'जु जगु काजल की कोठरी, अंध परे तिस माहिं ।
हउ बलिहारी तिन्हकउ, पैसि जु नीकसि जाहि ।।'[१]

यहां काजल की कोठरी से तात्पर्य संसार से है । जिसमें अंधे ही लिप्त होते हैं तथा बलिहारी उन लोगों(संतों) के प्रति है, जो उसमें पड़कर भी निकल जाते हैं ।

इसके अतिरिक्त कबीर ने आंधी, भ्रम की टाटी, थूनी, तथा छांनि का रूपक निम्न पद में बड़े ही मार्मिक ढंग से बांधा है --

'संतौ भाई आई ग्यांन की आंधी रे ।
भ्रम की टाटी सबै उडाणी, माया रहै न बांधी ।।
हिति चित की द्वै थूंनी गिरानी, मोह बलींडा तूटा ।
त्रिस्ना छांनि परी घर ऊपरि, कुबधि का भांडा फूटा ।।
जोग जुगति करि संतौ बांधी, निरचू चुवै न पांणी ।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जांणी ।।
आंधी पीछै जो जल बूठा, प्रेम हरी जन भींना ।
कहै कबीर भान के प्रगटै, उदित भया तम षीना ।।'[२]

१- संत कबीर, सलोकु २६
२- कबीर ग्रन्थावली, पृ०९३ (पद१६)

सन्त कबीर ने हठयोग एवं विवाह आदि के रूपकों का भी प्रयोग किया है --

'गंग जमुन के अन्तरै, सहज सुन्नि के घाट ।
तहा कबीरै मठु कीआ, खोजत मुनि जन बाट ।।'[१]

यहां गंगा-यमुना-- इड़ा-पिंगला के रूप में तु संगम-सुषुम्ना के रूप में, सुन्नि का घाट-- आज्ञा चक्र के रूप में तथा मठका प्रयोग साधना के केन्द्रीभूत करने के रूप में हुआ है । बाट-- साधना पथ में प्रशस्त होने के लिए प्रयुक्त हुआ है । विवाह के रूपक में सन्त कबीर ने कहा है --

'तनु रैनी मनु पुनरपि करिहउ पांचउ तत बराती ।
राम राइ सिव भावरि लैहउ आतम तिह रंगराती ।।
गाउ-गाउ री दुलहनी मंगलचारा ।
मेरै गृह आये राजाराम भतारा ।।'[२]

यहां बराती से तात्पर्य पंचतत्व से है । दुलहिना--आत्मा तथा मंगल गीत गाने वाली --इन्द्रियां हैं । भतारा से तात्पर्य(भर्तार--स्वामी) राम से है ।

दादूदयाल ने भी गुरु-सबद की महत्ता को स्वीकार करते हुए एकमात्र उसे ही परमतत्व की प्राप्ति में सहायक कहा है--

'दादू देव दयाल को, गुरु दिखाई बाट ।
ताला कुंजी लाइ करि, खोले सबै कपाट ।।'[३]

१- सन्त कबीर,सलोकु १५२
२- सन्त कबीर, रागु आसा,२४
३- दादू दयालकी बानी,भाग१,गुरुदेव को अंग ६

इसी भाव को चोर के रूपक में दादू ने इस प्रकार कहा है--

'इत घर चोर न मूसै कोई । अन्तरि है जे जानैं सोई ।।
जागहु रे जन तत्व न जाइ । जागत है सो रह्या समाइ ।।
जतन-जतन करि राखहु सार । तस्करि उपजै कौन विचार ।।'[१]

कबीर तथा दादू की भाँति ही नानक, सुन्दरदास, दरिया साहब, गरीबदास, चरणदास, तथा मोखा साहब आदि ने भी विभिन्न रूपकों के माध्यम से गूढ़तम रहस्यों को भी सहज रूप में जन-सामान्य तक पहुंचाकर उन्हें बोधगम्य कराया ।

उलटबांसी

'उलटबांसी' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग कब से प्रारम्भ हुआ, इसके विषय में विद्वानों की धारणा अभी तक अस्पष्ट ही है । उलटबांसियों की परम्परा प्राचीनकाल से ही चली आ रही है । वेदों, उपनिषदों तथा सिद्धों एवं नाथों के साहित्य से होती हुई संत साहित्य में उलटवासियों की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है ।

ऋग्वेद में कहा गया है --'इदं वपुर्निवचनं जनासश्चरन्ति यन्नचस्तस्थुराप:'-- अर्थात् यह शरीर निश्चय ही ध्यान देने योग्य है । इसमें नदियां बहती हैं और जल स्थिर रहता है[२] । ईशोपनिषद् में कहा गया है कि वह रुका हुआ भी अन्य दौड़ने वालों से आगे निकल जाता है[३] । कठोपनिषद्

१- दादू दयाल की बानी, मारू, पद ४४

२- ऋग्वेद (४-५-४७-५)

३- 'तद्धावतो 'न्यानत्येति तिष्ठत्' --(ईशोपनिषद् मं०४)

में -- वह बैठा हुआ भी दूर चला जाता है और सोता हुआ भी सर्वत्र पहुंचता रहता है[1]। सिद्ध साहित्य में केवल एक ही उलटबांसी मिली है (ढेण्ढणपा चर्यापद३७)[2]। जिसके रहस्य को समझना सहज सम्भाव्य नहीं है, यथा--

ढेण्ढणपा

'बदल बिआअल गविआ बाँझ । पिढा दहिएउ ते तिनि साँझ ।
जो सो बुधी सो धनि बुधी । बप जो सो चोर सोइ साधी ।
निति निति सिआल सिंहे समजुझअ। ढेढण पाएर गीत बिरले बुझअ ।'

तथा--

चर्यापद

'सारि सासु नणन्द घरे शाली । माअ मारिआ कान्ह महल कपाली ।

नाथ साहित्य में उलटबांसियों का प्रयोग अधिक हुआ है, जिसका प्रभाव अंशत: कबीर की उलटबांसियों पर भी पड़ा है, यथा--

'डुंगरि मंछा जलि सुसा, पाणी में दी लागा ।
अरहट बहै तुसालवां, सूलै कांटा भागा ।।'[3]

तात्पर्य यह कि मछली पहाड़ पर चढ़ जाती है, सरहा जल में प्रवेश करता है तथा पानी में आग लग जाती है, परिणामत: तुषालु व्यक्तियों के लिए रहंट बहने लगती है और शूल से कांटा निकल कर नष्ट हो जाता है।

१- आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वत:' -- कठोपनिषद्(१-२-२०)
२- डा० धर्मवीर भारती -- सिद्ध साहित्य,पृ०४६६
३-'गोरखबानी' (प्रयाग),पद २०,पृ०११२

और भी --

नाथ बोलै अमृत बाणी, बरिषैगी कंवली भीजैगा पांणी ।।
गाडि पडया बांधिले डूंटा, चले दमांमां बाजिले ऊटा ।।
कडवा की डाली पांपल बावै, मुवा के सबद बिलइया नावै ।।
चले बटावा थाकी बाट, धोवै छुरिया ठौरै घाट ।।
ढुकिले ढुकर मुकिले चोर, ... तलि गागरि ऊपर पनिहारी ।।
मगरी पर चुल्हा धुंधाइ, पोषणहारा कौं रोटी साइ ।।
कामिनी जलै अंगीठी तापै,... बहु बिवाई साधु जाई ।।
नगरी की पांणीं कूई जावै, उलटी चरचा गोरख गावै ।।[१]

गोरखबानी में 'उलटी चरचा' का प्रयोग मिलता है । कहीं-कहीं उसका नाम 'विपर्यय' अथवा 'उलटी' भी दिया गया है । नामों की भिन्नता चाहे जिस रूप में हो, किन्तु इन सब का आशय एक ही है, वह यह कि 'किसी बात का किसी विपरीत वा असाधारण कथन के द्वारा वर्णन करना ।'

'उलटबांसी' शब्द की व्युत्पत्ति 'उलटा' एवं 'अंश' तथा 'उलटा' एवं 'बांस' शब्दों द्वारा की जा सकती है[२] । यहां प्रथम व्युत्पत्ति से तात्पर्य यह कि ऐसी रचना जिसमें किसी-न-किसी अंश में उलटी बातें अवश्य हों तथा दूसरी व्युत्पत्ति से तात्पर्य यह कि जिस रचना में 'बांस (पार्श्व भाग वा अंग) उलटा वा विपरीत ढंग का पाया जाय ।'[३]

ये उलटबांसियां कुछ उलट-फेर के साथ सन्त साहित्य में भी प्राप्त होती हैं, जिसका विवरण हम आगे प्रस्तुत करेंगे ।

१- गोरखबानी, पद४७, पृ० १४१-१४२
२- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी-- कबीर साहित्य की परख, पृ० १५१, १५२
३- डॉ० सालहकुंवर करहड चड्यउ, बांसड चाढ़ी नार --ढोला मारुरा दहा' संख्या ६२५

सन्त साहित्य में प्रयुक्त उलटबासियाँ

सन्त साहित्य में उलटबासियों का प्रचार अधिक बढ़ा। यहाँ तक कि सन्तों के लिए उलटबासियों का प्रयोग करना स्वाभाविक-सा हो गया। सन्त कबीर ने--' है कोई जगत गुरु ग्यानी, उलटि बेद बूझै।'[१] कहकर इसे 'उल्टा वेद' की संज्ञा से अभिहित किया।

सन्तों की इन उलटबासियों की रचना का तात्पर्य यह था कि अत्यन्त गूढ़ तत्व और रहस्यपूर्ण बातों को जनसामान्य तक को बोधगम्य कराना। उलटबासियों के प्रयोग से जन सामान्य आश्चर्य चकित हो जाते थे तथा उसके गूढ़ रहस्य को जानने की उत्कण्ठा उनके हृदय में बढ़ जाती थी। कबीर की उलटबासियाँ गूढ़ रहस्य वाली हैं या, यथा--

पहले पुत पिछौरा माई
चेला के गुरु लागे पाँई।[२]

सन्त कबीर ने अपनी उलटबासियों में सांसारिक प्रपंच, सहजानुभूति, ज्ञान विरह, आत्म तत्वान्वेषण, माया, काल, सृष्टि तथा मन आदि विषयों का गूढ़ विवेचन किया है और गृह, वन, शरीर, प्राकृतिक कार्य व्यापार एवं व्यावसायिक प्रतीकों को माध्यम बनाया है। नीचे सांकेतिक रहस्यपूर्ण कुछ उलटबासियाँ उद्धृत की जा रही हैं :-

'पण्डिता पुतु पिछे रो भाई । गुरु लागो चेले को पाई ॥
एहु अचम्भउ सुनहु तुम भाई । बैसत सिंघु चरावत गाई ॥

१- कबीर ग्रन्थावली, पृ०सं०।
२- ,, पृ०११२(सा०ए०)

जल की मछली तरवरि बिआई । देखत कुतरा ले गई बिलाई ।।
तले रे बैसा ऊपरि गुवा । तिस के पेडि लगे फल फुला ।।
धौरे धरि मैस चरावन जाई । बाहरि बैलु गोनि घरि आई ।।
कहत कबीर जु इस पद बूझ । राम रमत तिसु सभु किछु सूझै।। १

तात्पर्य यह कि पुत्र का माता के पहले उत्पन्न होना, गुरू का चेला के चरण स्पर्श करना, गाय का सिंह को चराना, मछली का वृक्ष पर प्रसव करना, बिल्ली द्वारा कुत्ते को ले जाना, आदि सम्पूर्ण कार्य-व्यापार लोक विरुद्ध है । उलटा है । यहा तो उलटबांसी है । जिसके माध्यम से कबीर ने आध्यात्मिक पक्ष की ओर ध्यान आकृष्ट किया है,इसके अनुसार-- पुत्र-- जीव, माता--माया, गुरु--शब्द, चेला-- जीवात्मा, सिंह-- ज्ञान, गाय-- वाणी, मछली-- कुंडलिनी,तरुवर-- मेरुदण्ड, कुत्ता-- अज्ञानी, बिल्ली-- माया,पेड़-- सुषुम्ना नाड़ी,फल-फूल-- चक्र और सहस्रदल--कमल, घोड़ा--मन, भैंस-- तामसी वृत्तियां, बैल-- पंच प्राण तथा गोनि-- स्वरूप की सिद्धि के प्रतीक हैं । जिनके अनुसार अर्थसंगति स्पष्ट हो जाती है ।

इसी प्रकार कबीर की माया से सम्बन्धित उलटबासियां भी लोगों को आश्चर्यचकित कर देने वाली हैं--

'संतौ अचरज एक मैं भारी । पुत्र धरल महतारी ।।
पिता के संगे भई है बावरी । कन्या रहलि कुमारी ।।
ससहिं छाड़ि ससुर संग गवनी। सासुहिं सावत दीन्हा ।।
नन्द मउजि परिपंच रचौहै । मोर नाम कहि लीना ।।' २

१- सन्त कबीर, रागु आसा २२
२- कबीर बीजक,सबद ६

यहां भी आध्यात्मिक पक्ष में रूपकों के अर्थ निम्न हैं--
पुत्र -- जीव , महतारी-- माया, पिता-- ईश्वर,कन्या कुमारी-- माया, ससम-- ईश्वर, ससुर-- अज्ञान, भाई-- अविवेक, ससुराल-- संसार, सासु--वंचक लोगों की वाणी, ननद भौजाई-- कुमति और अविद्या का अर्थ प्रस्तुत करते हैं ।

इसके अतिरिक्त सन्त कबीर ने अलंकारों के माध्यम से भी उलटबांसियों की रचना की है,जिनमें विरोधमूलक अलंकार ही प्रमुख रूप में प्रयुक्त हुए हैं । यथा-- विभावना,असंभव,विरोधाभास विशेषोक्ति विषम और असंगति आदि ।

विभावना

'तरवर रूप पेड़ बिन ठाढ़ा , बिन फूलां फल लागा ।
साखा पत्र कछु नहीं वाके , अष्ट गगन मुख बागा ।।'[१]

असम्भव

'बैल बियाय गाय भई बांझ
बछरा दुहे तीनों सांझ ।'[२]

विरोध और विशेषोक्ति

'ठाढ़ा सिंह चरावै गाइ ।'[३]

विषम

'आकासे मुखि औंधा कुआं, पाताले पनिहारि ।'[४]

१- कबीर ग्रन्थावली पद १६५
२- ,, पद ८०
३- ,, पद ११
४- ,, पृ० १६-४५

छई !

असंगति

'आंगणि बेलि अकासि फल, अण ब्यावर का पुत्र'[1]

इन अलंकारों के अतिरिक्त उपमा, रूपक, श्लेष, यमक आदि अलंकारों का प्रयोग भी सन्त काव्य में हुआ है। उनके उदाहरण निम्नलिखित हैं--

उपमा -- पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जाति।
देखत ही छिप जायगी, ज्यूं तारे परभाति।।

रूपक -- हउ पुतु तेरा तूं बापु मेरा।
इकै ठाहर दुहा बसेरा।।[2]

उत्प्रेक्षा -- कामिनी कौदहै मानौ कहिवै सघन बन,
उहां कौऊ जाइ सुतौ मृति कै परतु है।
हुजर की गति कहि कैहरि कौ मय जाये
बैनी काली नागिनीऊ फनकौ धरतु है।
कुच है पहार जहां काम चोर रहै तहां
साधिकै पटाका बान प्रान कौ हरत है।
सुन्दर कहत एक और डर अति तामै
राकाउ बदन आऊं आऊं ही करतु है।।[3]

श्लेष -- 'आसै पासै जौ फिरै, निपट पिसावै सोय।
कीला से लागा रहै, ताको बिघन न होय।।'[4]

१- कबीर ग्रन्थावली-- बेली कौ अंग ४
२- सन्त कबीर - राग आसा, पृ०६३
३- सुन्दर ग्रन्थावली, पृ० ४३७
४- कबीर संत बानी संग्रह, भाग१, पृ०१२

यमक -- देह धरे को गुन यही, देव देह कछु देह ।
बहुरि न देही पाइये, अबकी देह सो देह ।।[१]

काव्यलिंग-- गोविन्द, के किये जीव जात हैं रसातल को, गुरु उपदेसै सुतौ छूटे जम फंद
गोविन्द के किये जीव बस परे कर्मनि के, गुरु के निवाजे सौ फिरत है-
स्वच्छन्द तै ।
गोविन्द के किये जीव डूबत भवसागर में, सुन्दर कहत गुरु काढ़े दुख -
इन्द तै ।
और जु कहां लौं कछु मुख तै कहै बनाइ, गुरु की तौ महिमा अधिक-
है गोविन्द तै ।।[२]

अतिशयोक्ति--सपनेहु में वरांई के धोखेहु निकरै नाम ।
वाके पथ की पैतरी, मेरे तन को चाम ।।[३]

उलटबासियों की परम्परा कबीर के पश्चात् भी चलती रही है । किन्तु नामकरण में कुछ भिन्नता अवश्य हो गई थी । सन्त सुन्दरदास ने उनको 'विपर्यय'[४] कहा है ।शिवदयाल ने उन्हें 'उलटीबात' शब्द से अभिहित किया तथा तुलसी साहब ने उनको 'उलटी रीति' कहा है ।

दादूदयाल की बानी में भी उलटबांसी का प्रयोग हुआ है--

मुने यैह अचम्भौ थाये ।
कीड़ी यै हस्ती बिडार्‌यौ, तेन्हे बैठी खाये ।
जाता हुतौ ते बैठी हारे, बजाण तेन्हैं ता वाहै ।।
पांगुलौ उजावा लाग्यौ, तेन्हे कर को साहै ।
नान्हौ हुतौ ते मोटी थयौ, गगन मण्डल नहिं माये ।
ते जाणै जे निरखी जोवै, खोजी ने बलि माहैं ।
दादु तेन्हौ मरम न जाणै, जे जिम्या बिहूंणौं गाये ।।[५]

१- कबीर सन्त बानी, भाग१, पृ०५०
२- सुन्दर ग्रन्थावली, पृ०३६२
३- सन्त बानी संग्रह, भाग१, पृ०५
४- कबीर साहित्य का परख, पृ०१८१
५- दादूदयाल की बानी, भाग२, पद २१३

अर्थात् मुझे यह आश्चर्य है कि चींटी ने हस्ती को खा लिया, तात्पर्य यह कि सुरति ने सद्गुरु के उपदेश द्वारा परिपुष्ट होकर हस्ती रूपी मन को खा लिया। चतुर मन हार मानकर बैठ गया तथा भोली भाली सुरति के वशवर्ती में आ गया। जो मन चंचलता का परित्याग कर दिया तथा पंगु रूप धारण कर लिया वही उन्मनीभाव हुआ। गुरु-उपदेश की महत्ता से ही सन्तों सुरति इतनी विराट हो गई कि गगन मण्डल में भी नहीं समा पा रही है। इस रहस्यपूर्ण मर्म को तीक्ष्ण अंतर्दृष्टि वाला ही जान सकता है।

इस प्रकार उलटबांसियों की परम्परा कबीर से लेकर नानक, दादू, सुन्दरदास तथा अन्य परवर्ती सन्त-कवियों तक चलती रही।

(३) छन्द और भाषा

छन्द

सन्तों ने पदों के माध्यम से ही अपनी रचनाएं की हैं, जिनमें प्रकारान्तर से छन्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। तात्पर्य यह कि सन्तों ने छन्दों की रचना प्रयासपूर्वक गढ़-गढ़कर नहीं की, वरन् सहज रूप में ही उनके काव्य में छन्द बनते गए। पदों के साथ ही साथ सन्तों ने साखियों एवं रमैनियों की भी रचनाएं की। इन रचनाओं में सवैया, कवित्त, छप्पय, अरिल्ल, कुण्डलियां और त्रिभंगी आदि प्रमुख छन्द थे। इनके अतिरिक्त बरवै जैसे एकाध छन्दों के भी प्रयोग सन्त सुन्दरदास जैसे कवियों ने किये। सुन्दरदास ने सवैया छन्द के किरोट, घोर, कैतकी आदि कई रूपों के प्रयोग किए हैं, जिनमें इन्दव एवं हंसाल की भी गणना की जा सकती है।

१- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी-- सन्त काव्य(भूमिका), पृ०११५

'अरिल्ल छंद' सन्तों को विशेष प्रिय था । इसका प्रयोग उन्होंने वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरणार्थ किया है । इन सन्तों की साखियों में दोहों और सोरठों का ही नहीं, वरन् 'हरिपद' श्याम उल्लाल, दोहा, छप्पय, चौपाई आदि छंदों का भी प्रयोग हुआ है ।

सन्त कबीर ने मात्रात्मक भिन्नता के साथ दोहों का प्रयोग किया है । दोहा १३+११ मात्राओं के योग से २४ मात्राओं का छन्द है । इसके विषम चरण में १३ मात्राएं तथा सम चरण में ११ मात्राएं होती हैं । अन्त में जगण होता है । 'साखी, सबदी, दोहरा' में साखी और दोहरा अत्यन्त निकट हैं । आदि ग्रन्थ में साखियों को 'सलोकु' की संज्ञा से अभिहित किया गया है ।

'हरि सो हीरा छाड़ि के करहि आन की आस । १३+११ --२४
ते नर दोजक जाहिंगे सति भाषै रविदास । १३+११ --२४[१]

अपनी रचना में कबीर ने दुपदे, तिपदे, चौपदे, पंचपदे, तथा अष्टपदे छन्दों का प्रयोग किया है । जिनमें चौपदे का प्रयोग बार-बार हुआ है । इससे मिलता-जुलता ही चौपई और चौपाई छन्द हिन्दी में विशेष प्रचलित हैं । चौपई के प्रत्येक चरण में १५ मात्राएं तथा चौपाई के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएं होती हैं । चौपई के अन्त में गुरु लघु तथा चौपाई के अन्त में जगण (ISI) और तगण (SSI) से वर्जित हैं ।

चौपाई का प्रयोग सन्तों की रचनाओं में प्राप्त होता है--

जिहि पावक सुरि नर है जारे । राम उदकि जन जलत उबारे ।
भव सागर सुख सागर मांही । पीवि रहै जल निखुटत नाहीं ।।'[२]
१६+ १६

१- सन्त कबीर--सलोकु २४२, पृ०२८३
२- कबीर आदि ग्रन्थ, पृ०३२३

कालान्तर में चौपाई प्रधान ग्रन्थ रामायण के आधार पर से छन्दों को सम्भवतया रामायणी (रमैनी) कहा जाने लगा ।

महाकवि जयदेव का 'रोला' से मिलते-जुलते छन्द का रचना आदि ग्रन्थ में ,पृ०५२६ पर मिलती है ।

सारसी छन्द का प्रयोग कबीर में प्राप्त होता है, वह निम्नलिखित है,इसमें १६+११ के मिश्रण से २७ मात्राएं होती हैं--

'जिसहि बुझाए सोइ बुझै बिनु बुझै किउ रहीऐ --१६+११
सतिगुरु मिलै अंधेरो चुकै, इन बिधि माणकु लहीऐ --१६+११
तजि वादे दाहिने बिकारा, हरि पदु दृढ करि रहीऐ --१६+११
कहु कबीर गूंगे गुड़ खाइया, पूछे ते किआ कहीऐ --१६+११

दोहे के अतिरिक्त दोही छन्द का भी प्रयोग मिलता है । इसके विषम चरणों में दोहे की भांति १३ मात्राएं न होकर १५मात्राएं होती हैं । इसी प्रकार 'हरिपद' का भी प्रयोग हुआ है । जिसके विषम चरणों में १६ मात्राएं होती हैं । सोरठे का प्रयोग हुआ है , जो दोहे से भिन्न केवल इसी रूप में है कि इसके प्रथम और तृतीय चरण में हो ११ मात्राएं होती हैं और दूसरे तथा चौथे चरण में १३ । तात्पर्य यह कि दोहे को उलट देने से ही सोरठा बन जाता है । इसी प्रकार कबीर ने गीता तथा सार आदि छंदों का भी प्रयोग किया है ।

कबीर की भांति ही नानक,दादू तथा सुन्दरदास आदि अन्य परवर्ती कवियों ने भी छंद रचनाएं की हैं । सन्त दादूदयाल ने (१६+१६) मात्राओं के योग से चौपाई की रचना की है--

'भीतरि का यह भेद न जानैं कहै सुहागिनि क्यूं मन मानै ।। १६+१६--३२
अंतर पांव सौ परचा नाहीं ।महँ सुहागिनि लोगन माहीं।। १६+१६--३२

१- दादूदयाल की बानी(२) पद २८३,पृ०१२०

इसी प्रकार सन्त सुन्दरदास ने सवैये तथा कवित्त की बेजोड़ रचना की है । इसके अतिरिक्त 'बरवै' जैसे छंदों का प्रयोग भी सुन्दरदास ने किया है,जो इनकी निजी विशेषता है । इसी प्रकार कुण्डलिया के प्रयोग में पलटू साहब,छप्पय में भीषजन,अरिल्ल में बाजिन्द तथा रेखते में गरीबदास की रचनाएं देखी जा सकती हैं ।

सन्तों की भाषा

भाषा सामाजिक होते हुए वैयक्तिक साधन है । विषय के अनुसार और व्यक्तित्व की छाप के कारण भाषा में अन्तर आता है । जिसके कारण सभी सन्तों की भाषा एक नहीं है,वरन् उनमें वैषम्य है । कबीर की भाषा से नानक की भाषा भिन्न है और इन दोनों की भाषा से पृथक् दादू की भाषा है । सन्त गण विभिन्न क्षेत्रों के निवासी थे,जिनपर क्षेत्रीय बोलियों का प्रभाव होने के कारण उनकी भाषा में अन्तर पड़ता गया। दूसरा कारण था उनका अशिक्षित होना या शास्त्र का आश्रय न ग्रहण करना, जिसके कारण उनकी भाषा का कोई सुव्यवस्थित रूप नहीं प्रकट हो सका ।

सन्तों ने भाषा की शुष्टता,विशिष्टता, तथा दुरूहता पर विशेष ध्यान न देकर केवल भावों की अभिव्यक्ति पर ही बल दिया । परिणामत: सामान्य जनता तक अपने भावों को पहुंचाने के लिए उन्होंने सरल, अकृतिम तथा आडम्बर विहीन भाषा को ही अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया । सन्त कबीर बड़े ही अक्खड़-प्रकृति के थे । जो उनके विचार में आता था,उसमें बिना किसी उलटफेर के सहज रूप में ज्यों का त्यों कह देते थे । उनकी भाषा को खिचड़ी या या सधुक्कड़ी भाषा कहा जाता है ।

सन्तों की भाषा में साधारण कोटि के प्रतीकों, अति प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग मिलता है । सन्तों की काव्य-भाषा में अवधी, ब्रज, राजस्थानी, मैथिली तथा बुन्देलखण्डी आदि का अद्भुत प्रयोग मिलता है । सन्तों ने गूढ़तम भावों तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों को सरलतम भाषा में व्यक्त किया है ।

अब सन्त-कवियों के ग्रन्थों के आधार पर उनकी भाषाओं पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डालना उचित होगा --

कबीरदास

बीजक, आदि ग्रन्थ तथा ग्रन्थावली के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कबीरदास ने भोजपुरी, ब्रज, अवधी, खड़ी बोली, पंजाबी तथा राजस्थानी का सफल प्रयोग किया है । उदाहरणार्थ--

भोजपुरी -- फुलमल फुलल मालिनि मल गाँथल ।
फुलवा बिन सिंगल भौंरा निरासल ।। (बीजक)

अवधी -- कहहि कबीर भजु सारंग पानी ।
राम अधिक मोरी तिषा बुझानी ।। (आदि ग्रन्थ)

खड़ी बोली -- आऊँगा न जाऊँगा, मरूँगा न जीऊँगा ।
गुरु के सबद में रमि रमि रहूँगा ।। (ग्रन्थावली)

राजस्थानी -- क्या जाणै उस पाउ कूँ कैसे रहसी संग । (ग्रन्थावली)

कबीर की भाँति ही नानक, दादू, सुन्दरदास, चरनदास तथा मलूक साहब आदि की भाषा में भी ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी तथा मराठी आदि की प्रधानता पाई जाती है, यथा--

नानक की भाषा में पंजाबी, गुरुमुखी तथा खड़ी बोली की प्रधानता के साथ-साथ संस्कृत के तत्सम् एवं तद्भव शब्दों का भी प्रयोग भली भाँति

हुआ है । इनकी भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है । यथा--

मुरसिद मेरा मरहमी, जिन मरम बताया ।
दिल अंदर दीदर है, खोजा तिन पाया ।।
तसबी एक अजूब है, जामें हरदम दाना ।
कुंज किनारे बैठि के फेरा तिन्ह जाना ।।
हिरिस हिये हैवान है, बसि करिले भाई ।
दाद इलाही नानका, जिसे देवे खुदाई ।।

सन्त कवि दादूदयाल ने ब्रज,राजस्थानी,गुजराती,मराठी, तथा सिन्धी भाषा का प्रयोग किया है । इन सभी भाषाओं पर समानरूप से उनका अधिकार था । इसके अतिरिक्त संस्कृत भाषा के साथ ही साथ दादू को फारसी एवं अरबी का भी सम्यक् ज्ञान था ।

सन्त सुन्दरदास की भाषा अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक सुष्ठु तथा परिमार्जित है । इसका कारण यह है कि सुन्दरदास ने कई वर्षों तक काशी में रहकर वेदशास्त्रों का सम्यक् अध्ययन किया । सुन्दरदास ने ब्रजभाषा, खड़ी बोली,राजस्थानी,फारसी-अरबी,अवधी,गुजराती तथा संस्कृत एवं अपभ्रंश का सफल प्रयोग किया है । किन्तु इन भाषाओं में कवि को ब्रजभाषा ही सर्वाधिक प्रिय थी । ज्ञान समुद्र, स्वप्न-प्रबोध,रामाष्टक तथा बारहोमासा आदि ग्रन्थों की रचना कर ब्रजभाषा के माधुर्य को और भी विकसित किया । सुन्दरदास की ब्रजभाषा में संस्कृत के तत्सम् और तदभव रूपों का भी प्रयोग हुआ है,उनकी कविता का एक उदाहरण द्रष्टव्य है--

जौ पिय को व्रत ले रहै, कन्त पियारो सोइ ।
अंजन मंजन दूरि करि, सुन्दर सनमुख होइ ।।
सुन्दर प्रभु की चाकरी, हांसा खेल न जानि ।
पहले मन कौं हाथ करि, पीछै पतिव्रत ठानि ।।[१]

इन सन्तों की भांति ही अन्य परवर्ती सन्तों ने भी भोजपुरी ,अवधी,ब्रज, राजस्थानी तथा पंजाबी आदि रूपों का प्रयोग किया है ।

अत: यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि सन्त कवियों ने अपने भावों की अभिव्यक्ति को प्रधानता देने के प्रयत्न में शैली पक्ष पर अधिक ध्यान नहीं दिया । पद्यबद्ध रचना होने के कारण रस,अलंकार,छन्द आदि स्वाभाविक रूप से उनके काव्य में आ गये हैं । भाषा के सम्बन्ध में उनकी अस्थिरता स्पष्ट देखी जा सकती है ।

-o-

१- सन्त सुधासार,पृ०६३८ -- वियोगी हरि